International Journal of New Media Studies **ISSN: 2394-4331**
Volume 4 Issue 1, January-June, 2017

जगदीश चन्द्र के उपन्यासों में 'दलित चेतना'

अनीता कुमारी

राजकीय महाविद्यालय कॉलेज, भिवानी, विषय–हिन्दी

भूमिका

1930 में पंजाब के होशियारपुर जिले के एक गांव में उच्चवर्गीय और उच्चजाति में पैदा हुए जगदीश चन्द्र ने डी॰ए॰वी॰ कॉलेज जालन्धर से अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर की शिक्षा लेने के बाद दिल्ली में लम्बे समय तक आकाशवाणी–दूरदर्शन आदि में नौकरी की। जालन्धर में 1996 में अचानक उनकी मृत्यु हुई। आपने 1956 में उर्दू में लिखना शुरू किया। 1966 में प्रथम हिन्दी उपन्यास 'यादों के पहाड़' से शुरू होकर 'कभी न छोड़ें खेत', 'आधा पुल–', 'मुट्ठी भर काँकर', 'घास गोदाम', 'धरती धन न अपना'(1972) , 'नरककुण्ड में बास', 'टुण्डा लाट', 'लाट की वापसी', 'जमीन अपनी तो थी' (2001) आपने कुल दस उपन्यास लिखे। आपका एक कहानी संग्रह 'पहली रपट' तथा एक नाटक 'नेता जी का जन्म' भी है।

दलित जीवन की विसंगतियों का यथार्थ–चित्रण होते हुए भी 'दलित चेतना' और 'दलित विमर्श' का उपन्यास क्यों नहीं बन पाया? जबकि 'दलित चेतना', 'दलित विमर्श' से भिन्न अवधारणा है।

दलित समस्या' या 'दलित जीवन' को सहानुभूति या वर्ग–चेतना से यथार्थवादी ढंग से विमर्श के रूप में चित्रित करना 'दलित चेतना' नहीं है।

आधुनिक काल में 1975 ई॰ के बाद 'दलित चेतना' का साहित्य वर्ण/जाति की संरचना में शूद्रों की अस्पृश्यता और अपवर्जन की स्थिति के विरुद्ध उसके (वर्ण/जाति के) समूल नाश द्वारा दलित अस्मिता, समता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व की स्थापना के उद्देश्य से अम्बेडकर–फुले की विचारधारा को आधार बनाता है। 'स्वानुभूति' दलित–चेतना के साहित्य का आधार–बिंदू है। 'दलित–अस्मिता' के सृजन में 'दलित–चेतना' पूर्व में स्थापित अस्मिताओं को खण्डित करने का प्रयास भी है।

हिन्दी उपन्यासों में दलितों के नारकीय जीवन के जो चित्र हैं वे मानवीय, संवेदना–युक्त तथा आदर्शवादी–सुधारात्मक सदाशयता लिए हैं। वे छुआछूत पर, गरीबी पर, अमानवीयता पर, ब्राह्मणवादी तथाकथित पवित्रता पर, पाखण्डों–अन्धविश्वासों पर, शोषण पर, कट्टरता पर, भेदभाव पर, परम्पराओं पर प्रश्नचिह्न तो लगाते हैं परन्तु जाति–व्यवस्था पर कोई प्रश्न नहीं खड़ा करते। यहीं पर दलित चेतना की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों की सीमाओं का पता चलता है। हिन्दी उपन्यासकार की जीवन–दृष्टि व्यवस्था में कम या अधिक परिवर्तन की रही, उसे समूल बदलने की नहीं। लेखकों के सवर्ण संस्कार, हिन्दी पट्टी की विशेष सांस्कृतिक स्थितियां, कमजोर दलित–आंदोलन, राजनीति, समाज का साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण, अम्बेडकर–दर्शन से अनभिज्ञता, उत्तर भारत के धार्मिक– सामाजिक–राजनीतिक आंदोलनों में दलित नेतृत्व का अभाव तथा साहित्य में वर्चस्वशाली वर्गों का आधिपत्य आदि ऐसे अनेक कारणों से दलित–मुक्ति के वास्तविक व आधारभूत प्रश्नों को हिन्दी उपन्यास में स्थान

नहीं मिल सका। मध्य–वर्ग उपन्यास की सामग्री, कर्त्ता तथा पाठक तीनों रहा। हिन्दी कथा–साहित्य में मध्यवर्गीय समस्याओं व जीवन–स्थितियों की प्रचुरता रही। प्रगतिवादी साहित्य में वर्ग–भेद, शोषण, संघर्ष व चेतना का स्वर प्रमुख रहा। अन्तर्जातीय सम्बन्धों, अन्तर्जातीय विवाह आदि को भी विषय बनाया गया लेकिन जाति–व्यवस्था को चुनौती देने वाले स्वर जिनमें मूलभूत सवालों के प्रति वांछित गंभीरता व गहराई हो लगभग नदारद ही रहे।

यही वह बिन्दू है जहां पर 'दलित चेतना' के दृष्टिकोण से 'दलित समस्या' या 'दलित जीवन' को सहानुभूति या वर्ग–चेतना के साथ विमर्श के रूप में चित्रित करने वाले साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की जरूरत महसूस होती है। 'सहानुभूति' से लिखे आदर्शवादी अथवा यथार्थवादी साहित्य से दलित–मुक्ति आन्दोलन का कुछ भला नहीं हुआ। सीधे–सीधे कहें तो सच यह है कि गांधीवादी या मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित साहित्य या सामाजिक–जागृति आन्दोलन में दलितों को वर्ण/जाति व्यवस्था से मुक्ति के रास्ते नहीं बने, कुछ उदारता या राहतें ही मिलीं। इसीलिए साहित्य में अम्बेडकरवादी विचारधारा से प्रसूत 'दलित मुक्ति आन्दोलन' में व्यक्त दलित–अस्मिता पर आधारित 'दलित मुक्ति चेतना' स्वानुभूत यथार्थ अभिव्यक्ति द्वारा परम्परागत साहित्य व सौन्दर्य–शास्त्र की अपर्याप्तता पर सवाल खड़े करती है।

दलित' और 'दलित–चेतना' की अवधारणा :–

हिन्दी में 'दलित–चेतना' का साहित्य 1975 ई॰ के बाद स्थापित हुआ जिसकी परम्परा पालि–प्राकृत, अपभ्रंश, सिद्धों, नाथों, निर्गुण सन्तों में मानी गई। वर्ण/जाति की संरचना में शूद्रों की अस्पृश्यता और अपवर्जन की स्थिति के विरुद्ध उसके (जाति/वर्ण के) समूल नाश का एजेण्डा 'दलित–चेतना' है। 'अस्मिता', 'समता', 'स्वतन्त्रता', 'बन्धुत्व' को स्थापित करने के उद्देश्य से यह चेतना दलितों के अपवर्जन, उत्पीड़न, शोषण, अपमान, अन्याय का यथार्थ–चित्रण करती है।

यह दलितों के सत्व बोध का परिचायक शब्द है, जिसे उच्च वर्ग के लोगों ने दस्यु, राक्षस, अवर्ण, निषाद, पंचमर, चण्डाल और अंग्रेजों ने डिप्रैस्ड क्लास, गांधी जी ने हरिजन, भारतीय संविधान के अनुसूचित जाति–जनजाति आदि पर्यायों से विभूषित किया। अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति दलितों का जन्म सिद्ध अधिकार है। यह संस्कृति मल्टी कलचरल है और इस संस्कृति का अन्य समान सांस्कृतिक इकाईयों से भी सम्बन्ध है (इन्टर और क्रास कलचरल)।''1

कंवल भारती स्पष्ट करते हैं कि ''वास्तव में 'दलित' वही व्यक्ति हो सकता है, जो सामाजिक तथा आर्थिक, दोनों दृष्टियों से दीन–हीन है। जिन पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गन्दे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और सिर्फ वही दलित है।''2

आधुनिक काल में दलित–मुक्ति आंदोलन से पैदा हुई 'दलित–अस्मिता' ही 'दलित–चेतना' का मूल है। यह चेतना 'सहानुभूति' के साहित्य को दलित साहित्य नहीं मानती। 'स्वानुभूति' दलित साहित्य का आधार–बिन्दू है। इसका कारण बताते हुए हम डॉ॰ विवेक कुमार का कथन उद्धृत कर सकते हैं– ''दलित–अस्मिता' के सृजन में जहां जन्मना लांछन एवं अपवर्जन के खिलाफ संघर्ष है, वहीं सामाजिक एवं धार्मिक आधार पर पूर्व में स्थापित अस्मिताओं को खण्डित करने का भी प्रयास है।'3

भारतीय नवजागरण के अधूरेपन में भी इसका उत्तर मौजूद है। नवजागरण में दलितों के प्रश्न कमोवेश असम्बोधित रहे। अंग्रेज शासकों की नीतियों के कारण तथा इस काल की स्थितियों में पुनरूत्थानवादी रूझान से जो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हुआ तथा धर्म–सम्प्रदायों में विद्वेषपूर्ण स्पर्धा तेज़ हुई उसने महात्मा गांधी तथा अन्य चिन्तकों द्वारा चलाए जा रहे सुधारवादी–आदर्शवाद के 'उदार–अभियानों के सारतत्त्व' को खत्म करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। जाति–पांति का सृदृढ़ीकरण इसी दौर में हुआ लेकिन इसी दौर के हालात दलितों के प्रति नरम व मानवीय व्यवहार के लिए सवर्ण समाज को बाध्य कर रहे थे। हिन्दी साहित्य पर इस दौर में सर्वाधिक शक्तिशाली प्रभाव गांधी जी का तथा दूसरा मार्क्सवादी दर्शन का रहा। अधिकांश हिन्दी लेखकों ने दलितों के प्रति अमानवीय व्यवहारों पर तो कमोवेश लिखा लेकिन उनकी दुर्गति के मूल आधार 'जाति–वर्ण–व्यवस्था' पर कभी उंगली नहीं उठाई। वे केवल भेद पर ही अटके रहे, उसके मूल तक नहीं गये। 'जाति–उन्मूलन' न तो गांधी का एजेण्डा था और न ही मार्क्सवादियों या अन्य का। दलितों के सबलीकरण की बात भी आजादी के बाद शुरू हुई, वह भी अनेक अन्तर्विरोधों से लबरेज़।

हिन्दी में जिन उपन्यासों में दलितों/दलितों की जीवन स्थितियों का कमोबेश वर्णन हुआ उनकी संख्या पचास के लगभग है। इनमें भी पूर्णतः दलित विषयक उपन्यास आधे भी नहीं। दलित–चेतना सम्पन्न दृष्टिकोण से तो कोई भी उपन्यास सवर्ण–लेखक नहीं लिख पाये। दलित–विषयक तथा दलित–चेतना सम्पन्न उपन्यास में अन्तर है।

जगदीश चन्द्र ने आजादी के बाद के हिन्दी साहित्य में प्रमुख रूप से उपन्यासकार के रूप में अपनी पहचान बनाई। समाजवादी, यथार्थवादी लेखन के लिए प्रसिद्ध जगदीश चन्द्र को प्रेमचन्द की परम्परा का लेखक माना जाता है। लेकिन उनके लेखन में समकालीनता–बोध के लक्षण प्रमुख हैं। समकालीन साहित्य की पहचान साठोत्तरी जीवन–यथार्थ को दस्तावेजी रूप में चित्रांकन की रही है। यह दस्तावेजीकरण विचारधारा के प्रति बाहरी दिखावा नहीं करता बल्कि मानवीय संवेदनाओं से भरपूर है, प्रगतिवादी है, तथ्यात्मक यथार्थ पर बल देता है।

जगदीश चन्द्र का यह बहुचर्चित उपन्यास 1972 ई॰ में पहली बार प्रकाशित हुआ। हरिजनों (दलितों) की गांव में अपवर्जित, अपमानित, शोषित, संतप्त जिंदगी का यथार्थ उपन्यास का प्रमुख विषय है। पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक का कथन है कि ''गांव का एक हरिजन परिवार मेरे नाना जी की जमीन जोतता था और इसी सिलसिले में मुझे उनकी बस्ती में जाना पड़ता था।''4 एक सवर्ण के लिए वहां जाने में 'कुछ मर्यादाओं, कुछ परम्पराओं और सीमाओं के मानसिक बंधन थे। लेखक का किशोर मन बंधनों की दीवार तोड़कर 'हरिजनों की छोटी–छोटी सीलन भरी अंधेरी कोठरियों में छिपे रहस्यों को जानने के लिए' लोगों की आँख बचाकर वहां गया और 'मन भर कर उन बंधनों को तोड़ा।' इससे उसके मन में विद्रोह पैदा हुआ। अर्थशास्त्र की पढ़ाई करते हुए 'सामाजिक दुरावस्था के पीछे छिपे आर्थिक करणों का भी लेखक को पता चला और वह था जोतदार हरिजनों के पास जमीन का स्वामित्व न होना। लेखक का कथन है कि उनके जीवन की कटुताओं को स्वयं तो नहीं भोगा लेकिन 'अपने दुस्साहसों के कारण उनके जीवन को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला। जिसे 'सर्वथा निरपेक्ष रहकर' अपना मत या विचारधारा न थोपकर चित्रित किया है।

प्रमुख पात्र काली छः साल कानपुर में रहकर कुछ रुपये कमाकर पंजाब में अपने गांव लौटता है। चमादड़ी (हरिजनों की बस्ती) में बस बूढ़ी

चाची ही उसकी एकमात्र अपनी है। चाची शक्कर बांटती है तथा स्त्रियां लोक गीत गाती हैं। चौबारे वाला चौधरी हरनाम अपने खेत में पशु घुस आने के जुर्म में जीतू चमार को बुरी तरह पीटता है तथा जातिसूचक गालियां देकर सारी बस्ती को दुत्कारता–फटकारता है। काली जिसने खुद अनेक बाद चौधरी की मार सही थी, दूर बेरी के पेड़ के नीचे खड़ा सब देखता है। छज्जू शाह से अपना मकान पक्का करने की बात में उसे पता चलता है कि जिस जमीन पर उसका मकान है, वह उसकी मलकीयत नहीं बल्कि वह गांव की शामलात है। जीतू कहता है – ''काली, तू तो इस गांव से चला गया था। दोबारा इस नरक में क्यो आ गया है?'' काली का जवाब था ''जीतू, अपने घर में बैठकर दुनिया बहुत बड़ी नज़र आती है, लेकिन गरीब आदमी के लिए यह हर जगह तंग हैं''5 काली के मन में प्रश्न पैदा होता है कि 'लोग मारने का हौसला कैसे कर लेते हैं और कसूर न होते हुए भी लोग मार क्यों खा लेते हैं।''6 उसे लगता लगता है कि दोष चौधरी का इतना नहीं जितना मंगू का है। मंगू चाटुकार, बेशर्म और चौधरियों के टुकड़ों पर पलने वाला चरित्रहीन दलित पात्र है जो अपनी जाति की ही लड़कियों के प्रति चौधरी हरदेव (हरनाम का लड़का) को उकसाता है, स्वयं एक दलित लड़की लच्छो से दुष्कर्म का प्रयास करता है, अपनी जवान बहन को अक्सर पीटता है तथा चौधरियों के मुख से बहन के बारे में अश्लील टिप्पणियों पर एतराज़ तक भी नहीं करता।

छज्जू शाह कहता है कि 'शहर में गरीब आदमी मारा जाता है, गांव में तो फिर भी पल जाता है।' काली से उसके चाचा द्वारा लिया कर्ज़ वसूलने से भी सेठ नहीं चूकता। जमींदारों को भी वह ब्याज पर रुपये देता है।

चमादड़ी में सब मकान कच्चे हैं। काली द्वारा अपने कच्चे कोठरे को पक्का करने पर चौधरी ही नहीं मंगू जैसे उनके चमचे भी तीखी प्रतिक्रिया करते हैं। काली मंगू को पीट भी देता है। चौधरी द्वारा मंगू को कुत्ता चमार कहने पर काली अन्दर–ही–अन्दर क्रोधित होता हे। नींव खोदते समय पड़ोसी निक्कू (मंगू के उकसाने पर) खासा बाबेला खड़ा करता है। औरतें एक–दूसरे को 'जाटों की लुगाई, रखेल' आदि कहकर गालियां देती हैं, चौधरी काली पर क्रोधित होकर उसे ही सब फसाद का कारण मानता है। वह चमारों को 'कमीन', 'कमीन' कहकर दुत्कारता रहता है। घर बनाने के लिए काली मिस्त्री संता (बढ़ई), दीनू, प्रजापत, बाजीगरों आदि से मिलता है। संता मिस्त्री कहता है कि उसे काली चमार का हुलिया याद नहीं आया – ''सच्ची बात पूछो तो गांव में कुत्तों और चमारों का हुलिया याद रखना मुश्किल है। आते जाते रहते हैं ना।''7 काली कुछ क्रोधित होता है।

चौधरी हरदेव जैसे लोग दलित स्त्रियों का शोषण करते हैं। गांव में पादरी अचिन्तराम (जो स्वयं दलित है) नन्द सिंह चमार को सिक्ख से ईसाई बनाता है। अन्य पर भी वह डोरे डालता है, काली पर भी। नंद सिंह की जातिगत स्थिति में न सिक्ख बनकर कोई परिवर्तन आया और न ईसाई बनकर।

डॉ॰ बिशनदास कामरेड काली को प्रोलोतारी का पाठ पढ़ाता है। काली कहता है कि कानपुर में मजदूरों की तीन यूनियनें थीं। तीनों यूनियनों का मेम्बर रहा ... सब बेकार। हर यूनियन के लीडरों को सिर्फ अपने हलवे माण्डे से गर्ज़ थी। वैसे बिशनदास को लोग मूर्ख समझते हैं, कोई उसकी बात को गम्भीरता से नहीं लेता।

काली का बाप भी पहलवान था। कबड्डी खेलते हुए हार से खीझकर चौधरी हरदेव काली का कूल्हा तोड़ने के लिए ईर्ष्यावश मारता है तो लालू पहलवान (जाट) उसे मालिश से ठीक कर देता है।

दलितों के लिए जमीन का मसला सर्वप्रमुख है। जमीन सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार है। दलितों की भूमिहीनता की स्थिति पर गैर–दलित द्वारा लिखा यह शायद पहला उपन्यास है क्या इसे दलित–चेतना की रचना कहा जाए? सर्वप्रथम तो यही कि 'धरती धन न अपना' क्या एक यथार्थवादी उपन्यास है? उपन्यास का चमारों के जीवन से सम्बन्धित भाग यथार्थ–चित्रण की बजाय आदर्शवादी चित्रात्मक अभिव्यक्ति ज्यादा है। गांव का अवांतर चित्रण तथा काली–ज्ञानो की प्रेम कहानी भी इसी श्रेणी में आती है। चमारों के जीवन यथार्थ का सृजनात्मक रूपान्तरण लेखक नहीं कर पाता। इतिहास–बोध का अभाव इसमें स्पष्ट है। पंजाब के जिस भूखण्ड का चित्रण उपन्यास में हुआ है, वहां आजादी से पहले 'आदि धर्मी' दलित आंदोलन का केन्द्र रहा है। 1968 में पंजाब में उग्रपंथी कम्युनिस्ट आंदोलन (नक्सलवादी) शुरू हुआ जो तीन–चार साल चलता रहा, फिर कई वर्ष विखण्डित रूप में राजनीतिक चेतना को प्रभावित करता रहा।

उपन्यास में इन दोनों आन्दोलनों के असर का आभास तक भी नहीं होता। इन आंदोलनों की फिलॉसफी से लेखक पूर्णतः अनभिज्ञ है। डॉ॰ अम्बेडकर का जिक्र तो क्या उनके दर्शन की एक बूंद भी उपन्यास की अन्तर्वस्तु में नहीं है। ऐतिहासिक घटना–क्रम की यह अनदेखी उपन्यास को समय–काल विहीन कृति बनाती है। इतिहास मनोगत या व्यक्तिगत नहीं होता। यथार्थवादी उपन्यास की कथा–वस्तु में लेखक की विचारधारा विद्युत–धारा की तरह होती है। वैसे तो कोई भी कलाकृति किसी–न–किसी वर्गीय विचारधारा से पोषित होती है और उसे पोषित करती है। लेखक के संस्कारों में सामन्ती गांव की एक छवि है जो उपन्यास में बार–बार दृष्टिगत होती है। 'दलित बस्तियों के जीवन रहस्य' जानने के लिए तो लेखक ने 'जी भर कर बंधनों को तोड़ा।' कौन से बंधन तोड़े? यह भी एक प्रश्न है। फिर जिन जाट परिवारों का लेखक सदस्य है वहां तो लेखक को 'कुछ तोड़ने' की जरूरत नहीं थी। वहां स्त्रियों–बच्चों की स्थिति क्या है? दलित स्त्रियों, बच्चों से उनके रिश्ते क्या, कैसे, क्यों हैं? गांव के सामाजिक यथार्थ का संश्लिष्ट–सम्पूर्ण चित्र तो तभी रूपान्तरित हो पाता।

लेखक की सामन्ती विचारधारा बूटा सिंह (जाट) को बग्गा (चमार) द्वारा पीटने के प्रसंग में ही स्पष्ट है। सवर्णों की पंचायत में बाबा फत्तू (चमार) कहता है –जब तक आप लोगों ने हमारी इज्जत को अपनी इज्जत समझना छोड़ दिया, जब जाट और चमार का खून मिलने लगा तो यह गड़बड़ होने लगी। अगर आज आप के ही खून ने आपके बच्चे को मारा है तो आपको दुःख क्यों हुआ? फत्तू ने बग्गे की ओर संकेत कर कहा –इसे देखकर कोई कह सकता है कि यह चमारों की औलाद है?

'खून की शुद्धता' ब्राह्मणी विचारधारा का मुख्य औजार है। सदियों से गुलाम देश में अनेक नस्लें संश्लिष्ट रूप से घुलती–मिलती रही हैं। रक्त का यह सिद्धान्त वैयक्तिक व सामूहिक स्तर पर लाखों त्रासदियों का कारण है। झूठे दम्भ–अभिमान का कुत्सित खेल अब भी जारी है। स्त्री की गुलामी का इतिहास इसी सिद्धान्त की स्याही से लिखा गया है। तथाकथित इज्जत के नाम पर अन्तर्जातीय विवाह करने वाले युवाओं की हत्याएं और बहिष्कार आज भी बदस्तूर जारी है। दलित–प्रतिरोध अस्मिता के साथ लेखक की वर्गीय चेतना द्वारा किया यह एक घिनौना मज़ाक है। इसी सिद्धान्त द्वारा सदियों से दलितों पर निर्योग्यताएं लादी गईं। प्रश्न यह है कि लेखक की वैचारिक पक्षधरता कहां है? दूसरी ओर लेखक का दलित नायक (काली) विचारधारा–विहीन है। उपन्यास में दलित अपने अपमानों को जल्दी ही विस्मृत कर

देते हैं, काली भी। जमीन के लिए संघर्ष तो दूर, उसके प्रति जरा सा कंपन भी चमारों में दिखाई नहीं देता। दलित–अस्मिता के प्रति भी लेखक की कोई संवेदना जाहिर नहीं होती।

उपन्यास दलित–विमर्श की रचना भी नहीं बन पाया, दलित–चेतना की तो कहां बनता। 'दलित–त्रासदी' भी यह रचना नहीं बनती। केवल दलितों को विषय बनाया गया है या कहें यथार्थ के तथ्यों का दस्तावेजीकरण किया गया है। संवेदना या सहानुभूति के बिना विचारहीनता की स्थिति में एक खास कोण से लेखक अच्छी तकनीक (शिल्प) का इस्तेमाल करते हुए दलित–जीवन का चित्रांकन कर रहा है। बेशक इस सब की भी साार्थकता है क्योंकि तब तक बहुत कम दलितों की अपवर्जित जिन्दगी पर लिखा गया था।

संदर्भ

[1]. डॉ ए॰ अच्युतन; 'केरल का दलित साहित्य : एक विश्लेषण'; दलित साहित्य (वार्षिकी) सं॰ जय प्रकाश कर्दम; 2002; पृ॰ 87–88
[2]. कंवल भारती; दलित साहित्य की अवधारणा; बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ॰प्र॰); प्रथम संस्करण 2006; पृ॰ 15
[3]. डॉ॰ विवेक कुमार; अम्बेडकरवादी लेखक का काव्य शास्त्र (लेख); अपेक्षा (पत्रिका) सं॰ तेज सिंह; अंक जुलाई–सितम्बर 2004; पृ॰ 21
[4]. जगदीश चन्द्र; धरती धन न अपना; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण 1972; भूमिका
[5]. उपर्युक्त; पृ॰ 33
[6]. उपर्युक्त; पृ॰ 41
[7]. उपर्युक्त; पृ॰ 130